भावनाएं, शिक्षा और भावनात्मक स्वास्थ्य

कमला मुकुंदा

अनुवाद : योगेंद्र दत्त

क्षेत्रीय प्रारंभिक शिक्षा संसाधन केंद्र (आरआरसीईई)

केंद्रीय शिक्षा संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

क्षेत्रीय प्रारंभिक शिक्षा संसाधन केंद्र (आरआरसीईई)
केंद्रीय शिक्षा संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–110007

स्रोत : मुकुंदा, के., इमोशंस, लर्निंग एंड इमोशनल हेल्थ, अध्याय 10, *व्हाट डिड यू आस्क ऐट स्कूल टुडे, ए हैंडबुक ऑन चाइल्ड लर्निंग,* हार्पर कॉलिंस, नोएडा, 2009.

अनुवाद : योगेंद्र दत्त

क्षेत्रीय प्रारंभिक शिक्षा संसाधन केंद्र (यूएसआरएन-दिल्ली विश्वविद्यालय)
कमरा नम्बर 106, सीआईई एनेक्सी
एकेडेमिक रिसर्च सेंटर, गुरु तेग बहादुर मार्ग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–110007
टेलीफैक्स : 011-27667434
ईमेल : rrcee.du@gmail.com

यह अनुवाद सर दोराबजी टाटा ट्रस्ट (एसडीटीटी) , मुम्बई के सहयोग से संपन्न हुआ है।

अध्याय 10 : भावनाएं, शिक्षा और भावनात्मक स्वास्थ्य

कमला मुकुंदा

अनुवाद : योगेंद्र दत्त

(स्रोत : मुकुंदा, के., इमोशंस, लर्निंग एंड इमोशनल हेल्थ, अध्याय 10, *व्हाट डिड यू आस्क ऐट स्कूल टुडे, ए हैंडबुक ऑन चाइल्ड लर्निंग,* हार्पर कॉलिंस, नोएडा, 2009)।

किसी शिक्षक के लिए दुनिया की सैकड़ों भाषाओं में से संभवतः सबसे कीमती भाषा है 'देह भाषा'। एक शिक्षक के लिए ये लाजिमी है कि वो चिकनी-चुपड़ी बातों, शरारती नजरों और लटके चेहरों पर लिखी इबारत पढ़ना जानता हो क्योंकि इन्हीं से उसे विद्यार्थियों के अंदरूनी अहसासों का सुराग मिलेगा। अकादमिक संदर्भ में विद्यार्थी जो भावनाएं व्यक्त करते हैं उनको *अकादमिक भावनाएं* कहा जाता है। वे विद्यार्थियों के बहुत सारे परिणामों, जैसे अंतःप्रेरणा, बौद्धिक सामर्थ्य, सफलता, शारीरिक स्वास्थ्य और मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य आदि को प्रभावित करती हैं। सभी जानते हैं कि अगर कोई विद्यार्थी खुश नहीं है, अगर वह बेचैन या गुस्सा है तो आप उसे जो भी पढ़ाइए, वो ज्यादा कुछ नहीं समझ पाएगा। दूसरी तरफ, अगर वह एकाग्र होकर, दिलचस्पी लेते हुए और निर्भय होकर पढ़े तो चीजों को ज्यादा अच्छी तरह सीखेगा। लेकिन ये तो हिमखंड की सिर्फ चोटी है। स्कूल के कामों और स्कूल के प्रदर्शन के प्रसंग में विद्यार्थी रोज असंख्य भावनाओं के उतार-चढ़ाव से गुजरते हैं।

कायदे से हमें अपने विद्यार्थियों की भावनात्मक अवस्थाओं को भी उतनी ही अहमियत देनी चाहिए जितनी हम उनकी अकादमिक शिक्षा को देते हैं। लेकिन एक औसत स्कूली माहौल में शिक्षक के लिए हरेक विद्यार्थी की भावनात्मक जरूरतों पर ध्यान दे पाना बहुत मुश्किल रहता है। विद्यार्थी इतने ज्यादा होते हैं और वक्त इतना कम होता है। हम सभी विद्यार्थियों की अकादमिक भावनाओं पर ध्यान देने के लिए जरूरी वक्त और ताकत नहीं लगा सकते इसीलिए शायद हम उनको पूरी तरह नजरअंदाज करके चलने लगते हैं। यहां तक कि हम सीखने की प्रक्रिया में उनके महत्व को भी नकारने लगते हैं। हम खुद को ये दिलासा देने लगते हैं कि विद्यार्थियों की भावनाएं 'निरर्थक' हैं, उन पर ध्यान देने की जरूरत नहीं है क्योंकि पढ़ाई और इम्तिहान जैसे मसले ज्यादा अहम हैं।

बहरहाल, एक बात तय है, अगर हमको मान्यता न मिले, सीखने की प्रक्रिया में भावनाओं की उपस्थिति और ताकत को मान्यता न मिले तो पूरी संभावना है कि हमारे पढ़ाने का बहुत सारा हिस्सा बेकार जाता रहेगा। कहने का मतलब ये है कि भावनाओं का बच्चों की अंतःप्रेरणा और बौद्धिक सामर्थ्य के साथ बहुत गहरा रिश्ता होता है और ये तीनों परिघटनाएं स्कूल में चलने वाली सारी शिक्षा का आधार होती हैं। हालांकि हम अपने ब्यौरों में उनको अलग-अलग दिखाने की कोशिश करते हैं लेकिन हकीकत की जमीन पर वे एक दूसरे में उलझी हुई हैं। उदाहरण के लिए, हो सकता है कक्षा में कोई बच्चा अपने में खोया रहता हो, सीखने का विरोध करता हो या बहुत आक्रामक हो। उसके ऐसे व्यवहार की पीछे उसके विश्वासों या रवैयों का तो हाथ होगा ही, वे गुस्से, शर्मिंदगी और अपराधबोध जैसी बुनियादी नकारात्मक भावनाओं का परिणाम भी हो सकती हैं। इसी तरह, अगर कोई बच्चा कक्षा की गतिविधियों में बढ़-चढ़कर हिस्सेदारी करता है तो इसके पीछे न केवल गतिविधियों के महत्व और मूल्य से संबंधित उसके विश्वास काम करते हैं बल्कि बोरियत, दिलचस्पी, लगाव और आनंद जैसी भावनाओं का भी हाथ होता है।

मनोवैज्ञानिक एंटोनियो डेमासियो एवं मेरी हेलेन इमोरदिनो-यांग ने अपने एक ताजा पर्चे में इस बात को बहुत बेबाक अंदाज में कहा है। हमें भावनाओं को एक ऐसे नन्हे बच्चे की तरह नहीं देखना चाहिए जो अनायास ही दुकान में रखे कांच के बर्तनों को तोड़ने लगता है बल्कि भावनाओं को उस शेल्फ की तरह देखना चाहिए जिसमें कांच के बर्तन सुरक्षित रखे गए हैं! हम आमतौर पर 'ये या वो' की तर्ज पर सोचने की कोशिश करते हैं। मसलन हम अकसर खालिस तर्कशील विचार, या

भावनाओं से रहित बुद्धि का हवाला देते हैं। लेकिन जैसा कि यांग और डेमासियो ने बताया है, तर्कशीलता और सीखने में सामाजिक फीडबैक की समझ और इस्तेमाल शामिल रहते हैं और ये एक भावनात्मक प्रक्रिया होती है।

अगर हम विद्यार्थियों की भावनाओं पर ध्यान देने की अहमियत को मानते हैं लेकिन उन पर ध्यान नहीं दे पाते हैं तो इस समस्या का हल क्या है? विद्यार्थियों के भावनात्मक स्वास्थ्य पर ध्यान देने का एक और बेहतर तरीका भी है। इसका तरीका ये है कि स्कूल में ऐसा वातावरण गढ़ा जाए जो लगाव भरा हो और निर्वैयक्तिक और प्रतिस्पर्धी होने की बजाय बच्चों के व्यक्तित्व को मान्यता देता हो। इस अध्याय में मैं यही कहने का प्रयास कर रही हूं कि ऊंचे प्रदर्शन और सापेक्ष मूल्यांकन पर परंपरागत रूप से जितना जोर दिया जाता रहा है वह विद्यार्थियों में घातक भावनात्मक प्रतिक्रियाओं को जन्म देता है। यहां मैं 'घातक' जैसे सख्त शब्द का जान-बूझ कर इस्तेमाल कर रही हूं क्योंकि कुछ खास भावनात्मक अवस्थाएं सीखने की प्रक्रिया, सहपाठियों के आपसी संबंधों, अभिभावकों व शिक्षकों के साथ बनने वाले संबंधों और विद्यार्थी के मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य को निश्चित रूप से चोट पहुंचा सकती हैं। जैसा कि आप आगे देखेंगे, ये बात गर्व और आशा जैसी कुछ खास 'सकारात्मक' भावनाओं के बारे में भी उतनी ही सच है। हमारी शिक्षा में प्रदर्शन मानकों पर जितना भारी जोर दिया जाता है, उसको देखते हुए हम अपने बच्चों के लिए इससे ज्यादा कुछ नहीं कर सकते कि उन्हें अपनी हानिकारक भावनाओं से 'निपटने' में मदद दें। लेकिन निपटने की ये कोशिश तो निहायत अधूरा हल है! दूसरी तरफ, अगर शैक्षिक वातावरण सुगम और सहायक हो तो अकादमिक भावनाओं के मसले को ज्यादा मुकम्मल ढंग से संबोधित किया जा सकता है। बेशक, व्यापक अर्थों में बच्चों के लिए सुगम वातावरण का मतलब है आज प्रचलित मूल्यों के स्थान पर अलग तरह के सामाजिक, शैक्षिक एवं पारिवारिक मूल्यों की स्थापना करना। हालांकि हमें कई स्तरों पर काम करना है लेकिन अगर हम सभी अपने विद्यार्थियों के भावनात्मक जगत को ध्यान में रखकर चलें तो इसके फायदे बहुत व्यापक होंगे।

अगले हिस्से में अकादमिक भावनाओं और उनमें से भी दो भावनाओं - आनंद और बेचैनी - पर जरा विस्तार से चर्चा की गई है।

बॉक्स 1

गतिविधि संबंधी भावनाएं

आनंद (उत्तेजना और विश्रामपूर्ण अवस्था, दोनों) *जब गतिविधि को महत्व दिया जाता है और सीखने पर नियंत्रण रहता है।*

हताशा *जब गतिविधि को महत्व दिया जाता है और नियंत्रण कम रहता है।*

बोरियत *जब गतिविधि को महत्व नहीं दिया जाता है।*

परिणाम संबंधी भावनाएं

संभावनाओं से संबंधित भावनाएं

आशापरक आनंद *जब सफलता अपेक्षित होती है।*

नाउम्मीदी *जब विफलता अपेक्षित होती है।*

उम्मीद *जब परिणाम अनिश्चित होता है लेकिन सफलता पर जोर दिया जाता है*

बेचैनी *जब परिणाम अनिश्चित होता है लेकिन ध्यान विफलता पर रहता है।*

उत्तरवर्ती भावनाएं

आनंद *जब सफलता मिल जाती है।*

दुख *जब सफलता नहीं मिलती।*

निराशा *जब सफलता अपेक्षित थी लेकिन नहीं मिली।*

राहत *जब विफलता अपेक्षित थी लेकिन ऐसा नहीं हुआ।*

<u>सामाजिक भावनाएं</u>

गर्व *जब सफलता को अपनी करनी के रूप में देखा जाता है।*

शर्मिंदगी *जब भारी कोशिश के बावजूद सफलता नहीं मिलती।*

अहसान *जब सफलता को शिक्षक या किसी और की मदद का परिणाम माना जाता है।*

गुस्सा *जब विफलता को किसी और की हरकतों का नतीजा मान लिया जाता है।*

अकादमिक भावनाएं

आप चाहें तो एक एक्सरसाइज के तौर पर ऐसी अकादमिक भावनाओं की सूची बना सकते हैं जो, आपकी राय में, विद्यार्थी हमेशा अनुभव करते हैं। फिर अपनी सूची को बॉक्स 1 में दी गई सूची से मिलाकर देखें। ये सूची मनौवैज्ञानिक राइनहार्ड पेक्रून एवं उनके सहकर्मियों ने जर्मनी के कुछ स्कूलों के विद्यार्थियों से इकट्ठा किए गए गुणात्मक आंकड़ों के आधार पर तैयार की थी।[1] विद्यार्थियों से कहा गया था कि वे कक्षा के दौरान, घर में पढ़ने के समय, इम्तिहानों के दौरान अपनी भावनाओं का *वर्णन* करें। इन मौखिक ब्यौरों से मनौवैज्ञानिकों ने व्याख्याओं के साथ एक वर्गीकरण तैयार किया था जिसको बॉक्स 1 में दिखाया गया है। इस अध्ययन में बेचैनी को सबसे आम भावना पाया गया (सारी भावनाओं में से पंद्रह से पच्चीस प्रतिशत हिस्सा)। लेकिन, अगर हम इन भावनाओं को केवल 'सकारात्मक' और 'नकारात्मक' की श्रेणियों में बांट कर देखें तो पता चलता है कि सकारात्मक और नकारात्मक भावनाओं की कुल बारम्बारता लगभग बराबर है।

गौर करने वाली बात यह है कि इस टेबल में सफलता संबंधी भावनाओं की भरमार है - ऐसी भावनाएं जो सफलता और विफलता की अपेक्षा या उसके परिणामस्वरूप पैदा होती हैं। ये इस बात का सुबूत है कि स्कूल सीखने की बजाय प्रदर्शन का मंच बन गया है। लेकिन इस टेबल में गतिविधि संबंधी जो चंद भावनाएं दी गई हैं - आनंद, हताशा और ऊब - ये भी बेहद महत्वपूर्ण हैं क्योंकि वे सीखने में हिस्सेदारी या जुड़ाव की भावनाओं का परिणाम होती हैं। जब परिस्थितियां अनूकूल हों तो विद्यार्थियों में भावनाओं का 'प्रवाह' पैदा होता है, उनमें किसी काम को करने का अहसास और चुनौती का बोध पैदा होता है। मनोवैज्ञानिक डेबरा मेयर एवं जूलियाना टर्नर इस बात को समझना चाहती हैं कि शैक्षिक अनुभव की गुणवत्ता किस चीज से प्रभावित होती है या 'प्रवाह' का भाव किन चीजों से तय होता है। इस अमूर्त अवस्था का सबसे सरल ब्यौरा उनके एक पर्चे में मिलता है। इस पर्चे में एक नन्ही बच्ची ने स्कूल में की गई अपनी एक ऐसी गतिविधि के बारे में बताया है जिसमें उसे बहुत मजा आया। उसके मुताबिक, उसने 'बहुत सोचा… मुझे लगता था कि मैं सचमुच उसे समझ रही हूं और कुछ सीख रही हूं… मैं सचमुच उसमें डूब गई थी।"

इसमें अकादमिक भावनाओं और शैक्षिक अनुभव की गुणवत्ता के बीच एक गहरा संबंध दिखाई देता है। लेकिन जब मेयर और टर्नर ने कई साल पहले शैक्षिक अनुभवों की पड़ताल की थी तो शुरुआत में उन्होंने भावनाओं पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया था। वे कक्षा में विद्यार्थियों के *विश्वासों और रवैयों* की पड़ताल कर रही थीं : यानी लक्ष्य, जोखिम लेने का व्यवहार, कौशल का बोध आदि। इस तरह के अध्ययन में हमेशा बच्चों को सीमित उत्तरों वाले प्रश्नों (close-ended questions) वाली प्रश्नावलियां दी जाती हैं जिनके सामने उत्तर के रूप में कई विकल्प या अलग-अलग रेटिंग मान होते हैं। इस तरह की पद्धतियों से मनोवैज्ञानिकों को ऐसी सूचनाएं मिल जाती हैं जिनका वे फौरन विश्लेषण कर सकते हैं। ये आंकड़े उनकी उम्मीदों की रेंज के भीतर होते हैं। सौभाग्यवश, मेयर और टर्नर ने इसकी बजाय एक अलग रणनीति अपनाई। उन्होंने बच्चों से खुले प्रश्न भी पूछे जिनका बच्चे अपने शब्दों में उत्तर दे सकते थे (उनके अध्ययन का एक बड़ा हिस्सा गुणात्मक और विवरणात्मक ब्यौरों का था)। इस तरह, उन्होंने पाया कि निरपेक्ष विश्वासों और रवैयों की बजाय आंकड़ों में इस आशय के

ब्यौरों की भरमार थी कि अपने सीखने के विविध आयामों के बारे में विद्यार्थी खुद क्या *महसूस* करते हैं। ऐसा लगता है कि शैक्षिक अनुभव की गुणवत्ता बच्चों के भीतर भय, गौरव, गुस्सा, अचंभा, प्रेम, उत्तेजना और मजे की भावनाओं से तय हो रही थी। 'प्रवाह' के अनुभव इनमें से कुछ भावनाओं की उपस्थिति और अनुपस्थिति के साथ गहरे तौर पर जुड़े हुए थे।

सीखने की प्रक्रिया मूल रूप से सबसे मजेदार तब होती है जब हमारे कौशल और किसी गतिविधि की कठिनता के बीच संतुलन होता है। यानी, **सभी सामर्थ्य स्तरों** के विद्यार्थी सीखने में मजा ले सकें। हो सकता है ये बयान केवल सतही तौर पर ही सही लगता हो लेकिन ये निहायत अहम बात है। जरा ऐसे विद्यार्थियों के बारे में सोचिए जिनको आपने वाकई सीखने में मजा लेते हुए देखा है - इस बात की पूरी संभावना है कि उनका सामर्थ्य स्तर काफी ऊंचा रहा होगा। यहां अध्यापक के नाते हमें इस बात की पड़ताल करनी है कि ज्यादा से ज्यादा विद्यार्थियों में सामर्थ्य और गतिविधि की कठिनाई के बीच यह 'सही मेल' कैसे बनाया जाए। अध्याय 8 में मैंने इस बारे में कुछ सुझाव दिए थे कि किस तरह कक्षा के सभी विद्यार्थियों के लिए शिक्षा को अधिकतम चुनौतीपूर्ण बनाया जा सकता है। मैंने जो सुझाव दिए थे उन सभी में ज्यादा से ज्यादा विद्यार्थियों को 'प्रवाह की भावना' अनुभव करने का मौका मिलेगा।

आपको ये बात अबूझ लग सकती है कि 'मजे' जैसी चीज से सीखने में भला क्या फायदा होगा। क्या इस बारे में हमारे पास कोई मनोवैज्ञानिक सुबूत मौजूद है कि एक विद्यार्थी तब अपने सबक को ज्यादा अच्छी तरह सीख पाता है जब उसे अपने सबक में मजा आता है और वह सीखने के दौरान खुश हो? ये एक अहम सवाल है। ये सवाल इसलिए और भी अहम है क्योंकि आजकल स्कूल और शिक्षक, दोनों ही इस बात के लिए ज्यादा से ज्यादा जोर लगाने लगे हैं कि सीखने में विद्यार्थियों को ज्यादा से ज्यादा मजा आए। इसके फलस्वरूप यह हो सकता है कि 12 साल तक बच्चा मजे तक चीजें सीखता जाए लेकिन आखिर में आप यह नहीं कह सकते कि उसने ऐसे किसी बच्चे से ज्यादा या बेहतर सीखा होगा जो 12 साल तक केवल लद्दू घोड़े की तरह पढ़ता रहा है। कुछ शिक्षाविद तो यहां तक दलील देते हैं कि कठोर परिश्रम की जगह आनंद को स्थापित कर देने के नाम पर हम सीखने की संभावना को ही तिलांजलि दे देते हैं। बहरहाल, इस तर्क का आसानी से जवाब दिया जा सकता है। हम स्कूल में बच्चों को इसलिए खुश रखना चाहते हैं क्योंकि उनकी **भावनात्मक खुशहाली** अपने आप में एक वाजिब उद्देश्य है, न कि इसलिए क्योंकि इस खुशी से उनके इम्तिहानों में ज्यादा नंबर आने लगेंगे। लेकिन इसके साथ ही ये भी जरूरी है कि कक्षा के भीतर ये आनंद सीखने की प्रक्रिया में से ही पैदा होना चाहिए। यानी, बच्चों को आनंददायक अनुभव देने का मतलब ये नहीं है कि आप उनका *मनोरंजन* करने लगें या *शिक्षक अथवा सबक से* बच्चों पर कोई दबाव ही न पड़े।

आनंद के अनुभव से सीखने पर क्या असर पड़ते हैं, इसके बारे में कोई प्रत्यक्ष रूप से प्रासंगिक शोध नहीं है लेकिन इसके बारे में काफी सारे साक्ष्य जरूर हैं जिनको एक छोटे से सुघड़ वाक्य में समेटा जा सकता है : *जब आप खुश होते हैं तो ज्यादा रचनात्मक ढंग से सोचते हैं।* बहुत सारे अध्ययनों में - जिनमें से कुछ प्रयोगशालाओं में किए गए हैं, कुछ वास्तविक परिवेश में किए गए हैं, कुछ वयस्कों या बच्चों पर किए गए हैं, कुछ सामाजिक या बौद्धिक गतिविधियों पर आधारित रहे हैं - ये पाया गया है कि मामूली सकारात्मक मनोदशा भी बौद्धिक सामर्थ्य और लचीलेपन को बढ़ा देती है, सामान्य और असामान्य, दोनों तरह के नए विचारों को जन्म देती है। इस लचीलेपन से समस्या समाधान की बेहतर सामर्थ्य पैदा होती है, खासतौर से ऐसे कामों में जिनके लिए एक रचनात्मक रूप से अस्वाभाविक रवैये की जरूरत पड़ती है। दो मनोवैज्ञानिकों ने इस कथित **सकारात्मक भावना** के क्षेत्र में काफी काम किया है। उनका नाम ऐलिस आइजेन एवं बारबरा फ्रेडरिक्सन है और दोनों ने ही खुशी, कृतज्ञता, आनंद, दिलचस्पी, उत्सुकता आदि भावनाओं के फायदों के बारे में बताया है। आइज़ेन ने बेहतर समस्या समाधान या ज्यादा सामंजस्यपूर्ण सामाजिक व्यवहार जैसे फौरी लाभों को चिन्हित किया है। फ्रेडरिक्सन का अनुसंधान इस बारे में है कि बहुत संक्षिप्त सकारात्मक भावनाओं से भी लंबे दौर में कितने लाभ मिलते हैं। उनके मुताबिक, 'सकारात्मक भावनाओं से व्यक्ति न केवल वर्तमान में अच्छा महसूस करता है बल्कि उन भावनाओं से उसकी सोच में विस्तार भी आता है। सकारात्मक भावनाएं इस बात की संभावनाओं को बढ़ा देती हैं कि लोग भविष्य में भी अच्छा महसूस करेंगे।' इसके बरक्स उन्होंने अवसादग्रस्त मनोदशा के प्रभावों को रखा है जो व्यक्ति को ज्यादा संकुचित विचारों व व्यहवारों की तरफ धकेलती है और इससे व्यक्ति और ज्यादा अवसाद में घिर जाता है। फ्रेडरिक्सन के **विस्तार और वृद्धि** सिद्धांत से पता चलता है कि जब हम अच्छी मनोदशा में होते हैं, हमारा मूड अच्छा होता है तो हमारे पास ज्यादा अच्छे विचार होते हैं

और हम ज्यादा अन्वेषी होने के साथ-साथ घुलने-मिलने की भी कोशिश करते हैं। यह खुलापन हमारे भीतर स्थायी संसाधनों (बौद्धिक, शारीरिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक) को जन्म देता है जो भविष्य में भी हमारे लिए मददगार साबित होते हैं।[2]

इसी से जुड़ा एक सवाल ये है कि क्या इस आनंद से किसी सबक को ज्यादा बेहतर ढंग से याद रखने में मदद मिलती है या नहीं। इस बारे में हमारे पास जो साक्ष्य उपलब्ध हैं उनसे कोई स्पष्ट तस्वीर सामने नहीं आती। भावनाओं और स्मृति के संबंधों के बारे में तो काफी शोध किए गए हैं लेकिन इस तरह के अनुसंधानों में ज्यादा जोर *नकारात्मक* भावनाओं और *अनियमित* (व्यक्तिगत, आत्मकथात्मक) स्मृति पर ज्यादा जोर रहा है। अपने अनुभव के आधार पर हम सभी जानते हैं कि गहन भावनात्मक घटनाएं हमें ज्यादा समय तक और ज्यादा अच्छी तरह याद रहती हैं। इसके पीछे हिप्पोकैम्पस और उसके पास में स्थित प्रमस्तिष्कखंड (amygdala) की सक्रियता की ज्यादा हाथ रहता है। ये दोनों हिस्से भावनात्मक उद्दीपनों पर ज्यादा ध्यान देते हैं। मस्तिष्क के ये दोनों हिस्से *स्मृति सुदृढ़ीकरण* की प्रक्रिया को प्रभावित करते दिखते हैं, यानी नियोकॉर्टेक्स में नाजुक प्रारंभिक स्मृतियों को 'स्थापित' करने में (अध्याय 1 और 3 में इनमें से कुछ प्रक्रियाओं का ब्यौरा दिया गया है)। लेकिन जैसा कि मैंने पीछे कहा था, ये नतीजे ज्यादातर ऐसे उद्दीपनों के बारे में हैं जो हमारे भीतर भय, घृणा या बेचैनी पैदा करती हैं।

यहां से हम सीखने पर नकारात्मक भावनाओं के प्रभावों की तरफ बढ़ते हैं और अकादमिक बेचैनी पर ध्यान दे सकते हैं जिसका दुनिया भर के विद्यार्थियों में जिक्र किया जाता रहा है। बीते दशकों के दौरान परीक्षाओं से पैदा होने वाली बेचैनी के बारे में किए गए शोधों ने बार-बार ये दिखाया है कि यह भावना कितनी विनाशकारी हो सकती है - परीक्षाओं के प्रदर्शन के लिहाज से भी और सामान्य व्यक्तित्व के लिए भी। यह बेचैनी कामकाजी स्मृति के बेशकीमती संसाधनों को चोट पहुंचाती है जिससे जटिल कार्यों (जिनमें ऐसे संसाधनों की ज्यादा जरूरत पड़ती है) पर बच्चों का प्रदर्शन कमजोर पड़ने लगता है। मसला ये है कि बेचैनी के कारण बच्चे के दिमाग में ऐसे विचार घुसपैठ करने लगते हैं जिनका संबंधित कार्य से कोई संबंध नहीं है। इन विचारों की परिधि सीमित होती है लेकिन वे किसी प्रश्न पत्र का उत्तर देने की प्रक्रिया को बुरी तरह अस्त-व्यस्त कर सकते हैं। परीक्षाओं के प्रति बेचैन विद्यार्थी अपने खराब प्रदर्शन की आशंका से घिरा रहता है, वह यही सोचता रह जाता है कि दूसरों का प्रदर्शन कैसा होगा और शिक्षक उसके प्रदर्शन को कैसे आकेंगे। इन सारी प्रज्ञा संबंधी दखलंदाजियों को देखते हुए यह हैरानी की बात नहीं है कि वह अपनी परीक्षाओं में अच्छा प्रदर्शन नहीं कर पाता है।

प्रारंभिक शोधों से पता चलता है कि दूसरों के मुकाबले कुछ विद्यार्थी परीक्षाओं की उद्विग्नता की ज्यादा आशंका में रहते हैं। मगर महत्वपूर्ण बात यह है कि *परीक्षा-मुक्त परिस्थितियों में वे भी वैसा ही प्रदर्शन करते हैं जैसा अन्य विद्यार्थी करते हैं।* इस क्षेत्र में संभवतः सबसे ज्यादा काम मनोवैज्ञानिक इर्विन सैरेसन ने किया है जिन्होंने 1950 के दशक से '80 के दशक तक परीक्षा संबंधी उद्विग्नताओं पर शोध किया था। अपने एक अध्ययन में उन्होंने विद्यार्थियों में परीक्षा संबंधी उद्विग्नता को कम करने का प्रयास किया। उन्होंने बच्चों को दिलासा दी (फिक्र मत करो; तुम बढ़िया करोगे) और उन्हें सौंपे गए काम पर ध्यान केंद्रित करने के लिए बार-बार उकसाया ('बस समस्या पर ध्यान लगाओ; ध्यान भटकने मत दो')। सैरेसन ने पाया कि परीक्षाओं में बच्चों के प्रदर्शन को सुधारने में पहली वाली पद्धति दूसरी पद्धति के मुकाबले कम कारगर रही। यानी बच्चों को सहज शांत रहने की दिलासा देने के मुकाबले उनको बार-बार ध्यान केंद्रित करने में मदद देने का तरीका ज्यादा कारगर पाया गया। उनके नतीजे इस धारणा को पुष्ट करते हैं कि परीक्षा संबंधी बेचैनी वास्तव में तनाव-थकान को पैदा नहीं करती बल्कि इससे दिमाग भटकने लगता है।

परंतु दुर्भाग्यवश, तनाव और थकान विद्यार्थियों के जीवन का एक बहुत बड़ा हिस्सा होते हैं। भारत में विद्यार्थी बहुत कम उम्र से ही बहुत जल्दी-जल्दी परीक्षाओं से जूझने लगते हैं। उन पर मनमानी कसौटियों के अनुसार प्रदर्शन करने का लगातार दबाव बना रहता है। भारतीय मनोचिकित्सकों ने इस परिघटना (जो मुख्यतः मध्यवर्गीय परिघटना है) पर शोध करते हुए पाया है कि स्कूल में विफलता के भय की वजह से मानसिक स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं, और यहां तक कि आत्महत्या की संख्याओं में भी तेज इजाफा हुआ है। लेकिन हम बच्चों, यहां तक कि भावनात्मक रूप से स्वस्थ बच्चों के रोजमर्रा अनुभवों के बारे में भी आखिर कितना जानते हैं, ये एक सोचने वाली बात है।

हाल ही में किए गए एक अध्ययन से चंडीगढ़ के शहरी, मध्यवर्गीय, आठवीं कक्षा के विद्यार्थियों के दैनिक जीवन और भावनाओं की छोटी सी झलक मिली है। इस अध्ययन में *अनुभवों की सेम्पलिंग* नाम की एक रोचक तकनीक का सहारा लिया गया था। सुमन वर्मा, दीपाली शर्मा और रीड लार्सन ने सौ विद्यार्थियों को एक-एक अलार्म घड़ी दी जो हफ्ते भर तक दिन में कभी भी बजने लगती थी। जब भी अलार्म बजता तो विद्यार्थी को कई चीजें दर्ज करनी होती थीं। मसलन, उसे ये लिखना पड़ता था कि वह कहां है, वह क्या कर रही/रहा है, क्या उस समय उसकी इच्छा कहीं और होने की होती थी, और विभिन्न पैमानों पर वह कैसा महसूस कर रहा/रही थी (जैसे खुश-दुखी, उत्साही-चिड़चिड़ा, वगैरह)। इस शोध के नतीजे काफी दिलचस्प रहे। विद्यार्थियों ने अपना लगभग एक तिहाई समय स्कूल के कामों पर लगाया (जिसमें कक्षा में बिताया समय, होम वर्क, ट्यूशनों का समय शामिल था), एक तिहाई से कुछ ज्यादा समय आराम करने में (टेलीविजन, संगीत, गप-शप और खेल कूद, इसी क्रम में!) और एक तिहाई से कुछ कम समय अपनी पालन-पोषण संबंधी गतिविधियों (मुख्यतः खाने-पीने) में बिताया। इन तीनों अवधियों के दौरान उनकी भावनात्मक अवस्थाओं में एक स्पष्ट फर्क था। स्कूली काम से संबंधित गतिविधियों के दौरान विद्यार्थी कम खुश, कम शांत और कम उत्साहित रहते थे। इसी दौरान वे ज्यादा अकेलापन, निराशा और चिंतित भी महसूस करते थे। उदाहरण के लिए, उन्होंने बताया कि वे 'बहुत बोर, मुझे पढ़ना है, पढ़ना और पढ़ना है', 'थका हुआ, स्कूल में बहुत काम करना पड़ा', 'चिड़चिड़ा, मुझे परीक्षा की वजह से सुबह-सुबह उठना पड़ा' और 'चिंतित, मैं गणित की परीक्षा के लिए तैयार नहीं था/थी।' विद्यार्थियों ने यह भी बताया कि वे अपने काम पर सबसे ज्यादा ध्यान तब देते थे जब वे खुश होते थे। उनको लगता था कि ऐसी स्थिति में वे खुद गतिविधि चुनते थे और कहीं और होने की इच्छा नहीं रखते थे। शोधकर्ताओं का निष्कर्ष था कि होम वर्क न कर पाने के कारण सजा का डर स्कूली बच्चों में तनाव का एक मुख्य स्रोत होता है और 'स्कूली शिक्षा में सीखने और सकारात्मक भावनात्मक अनुभवों के बीच संतुलन जरूर होना चाहिए।'

तनाव!

एक बच्चा राह किनारे स्कूल की तरफ जा रहा है। आसपास बड़ी-बड़ी घास है। अचानक एक शेर छलांग लगाता है और उसके सामने पगडंडी पर आकर बैठ जाता है। वह गुर्राते हुए अपने होंठों पर जीभ फिरा रहा है। लड़का सन्न रह जाता है। उसका शरीर एकदम मानो सुन्न पड़ जाता है। उसको पता भी नहीं चलता और उसका शरीर बिजली की रफ्तार से या तो इस खतरे से निपटने के लिए या उससे भागने के लिए खुद को तैयार कर लेता है। जिस क्षण इस खतरे का अहसास होता है उसी क्षण उसके भीतर एड्रिनलिन नाम का एक हार्मोन भारी तादाद में उसके खून में बहने लगता है। इससे उसकी मांसपेशियों को ज्यादा ऑक्सीजन वाला खून मिल जाता है जिससे उसे खतरनाक शेर से बचने में मदद मिलती है और रक्त प्रवाह पाचन जैसे गैर-अनिवार्य तंत्रों की ओर कम जाने लगता है। दूसरी तरफ मस्तिष्क में उच्चतर ध्यानाकर्षण और फोकस से संबंधित न्यूरल नेटवर्क सक्रिय हो उठते हैं।

इसी समय बच्चे की देह में एक तुलनात्मक रूप से धीमी प्रक्रिया भी शुरू होती हैः कॉर्टिज़ॉल नाम का एक हार्मोन वसा एवं मांसपेशियों में से ऊर्जा पैदा करने के लिए रक्त प्रवाह में दाखिल हो जाता है। ये प्रक्रिया पहली, ऊर्जा सघन प्रक्रिया में इस्तेमाल हुई ऊर्जा की भरपाई करने के लिए शुरू होती है। यह प्रक्रिया खतरा गुजर जाने के पश्चात पहली प्रक्रिया से शरीर को वापस सामान्य अवस्था में लाने का काम करती है। इसी बीच, मस्तिष्क में रक्त कॉर्टिज़ॉल के उच्चतर स्तर को कॉर्टिज़ॉल के प्रति खासतौर से संवेदनशील रिसेप्टर पकड़ लेते हैं - और ये रिसेप्टर भी हमारे परिचित मित्र हिपोकैम्पस में ही केंद्रित रहते हैं। ये कोई इत्तेफाक की बात नहीं है। हिपोकैम्पस स्मृतियों को दर्ज करने का काम करता है। वह शेर के साथ इस मुठभेड़ की शक्तिशाली छवियों को दर्ज कर लेता है ताकि बच्चा अगली बार इस पगडंडी से भूल कर भी न गुजरे। और अंत में, जब कॉर्टिज़ॉल स्तर खून में एक निश्चित मात्रा पर पहुंच जाता है तो मस्तिष्क एक थर्मोस्टेट की तरह इसके उत्पादन को 'बंद' कर देता है और सब कुछ सामान्य अवस्था में लौट आता है। देखा आपने कि सामान्य मानवीय तनाव प्रतिक्रिया तंत्र कितनी खूबसूरती से रचा गया है!

खैर, ऐसी संभावना बहुत कम है कि स्कूल जाते हुए बच्चों का सामना कभी किसी शेर से हो। हां, इसकी काफी ज्यादा संभावना है कि वह कोई परीक्षा देने जा रहा हो, या अपना होमवर्क पूरा न कर पाने के कारण आज वह सुबह-सुबह डांट-डपट और सजा की उम्मीद के साथ स्कूल जा रहा हो। ये परिस्थितियां जीवनघाती तो नहीं हैं लेकिन बच्चे के शरीर में

तनाव प्रतिक्रिया जरूर पैदा कर सकती हैं। ऐसे में, उसके खून में कॉर्टिज़ॉल का उच्चतर स्तर इस बात की *आशंका* का परिणाम है कि क्या होने वाला है। आजकल तो बहुत सारे विद्यार्थियों का जीवन निम्नस्तरीय तनावों की एक शृंखला से भरा रहता है जो खून में बार-बार कॉर्टिज़ॉल की मात्रा को थोड़ा-थोड़ा बढ़ा देते हैं। इन क्रियाओं का कुल नतीजा ये होता है कि मस्तिष्क 'थर्मोस्टेट' तंत्र की सीमा ऊपर उठा देता है जिससे खून में कॉर्टिज़ॉल की उच्चतर मात्राएं बहने लगती हैं। इससे खून में कॉर्टिज़ॉल की मात्रा हमेशा सामान्य से ज्यादा रहने लगती है और आगे चलकर हाइपरटेंशन, अलसर, हृदय रोग और अन्य चिकित्सकीय विकार पैदा होते हैं।

शरीर या मस्तिष्क के लिए तनाव अच्छा नहीं होता और बच्चों की अकादमिक सफलता के लिए तो कतई फायदेमंद नहीं है।[3] तनावपूर्ण स्थितियों के स्मृति संबंधी लाभों के पीछे जो बात कही गई थी उससे कुछ भ्रम पैदा हो सकता है। मैंने जिक्र किया था कि कॉर्टिज़ॉल का स्तर बढ़ने से हिप्पोकैम्पस सक्रिय हो जाता है और स्मृतियों को ज्यादा अच्छी तरह दर्ज करने लगता है। और क्योंकि हमारे स्कूलों में याददाश्त ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण मान ली गई है इसलिए क्या ये कहा जा सकता है कि तनाव बच्चों के लिए 'अच्छा' होता है क्योंकि इससे यादें ज्यादा मजबूत हो जाती हैं? जी नहीं, हजार बार नहीं। पहली बात, इस प्रक्रिया से गहरे तौर पर प्रभावित होने वाली स्मृति एक तरह की क्षैतिज (spatial) स्मृति होती है (संभवतः इसलिए क्योंकि खतरे का *स्थान* कितना महत्वपूर्ण है) और इस बात का कोई साक्ष्य नहीं है कि इससे गणित या इतिहास जैसे स्कूली विषयों में भी बच्चे की याददाश्त अच्छी हो जाएगी। दूसरी बात, इस आशय का भी कोई साक्ष्य नहीं है कि तनावपूर्ण घटना *से पहले* जो तनाव पैदा हुआ था वह याददाश्त में कोई मदद देगा। उच्चतर कॉर्टिजॉल स्तर से याददाश्त बढ़ती है जिसके चलते आप अगली बार वैसी ही स्थिति में पड़ने पर खतरे से आसानी से बच पाते हैं, लेकिन जिन परिस्थितियों में केवल *आशंका* से ही तनाव पैदा हो जाता है, वहां कॉर्टिजॉल ज्यादा कुछ नहीं कर पाता। भला आप भविष्य को ज्यादा अच्छी तरह कैसे याद रख पाएंगे?! तीसरी और सबसे अहम, बढ़ते मस्तिष्क के बारे में किए गए ताजा शोधों से पता चलता है कि तनाव और कॉर्टिजॉल के तत्संबंधी उच्च स्तर से वास्तव में **हिप्पोकैम्पस के बहुत महत्वपूर्ण तत्व नष्ट हो जाते हैं।** इस प्रकार, लंबे दौर में हमारी याददाश्त और सीखने की सामर्थ्य कमजोर पड़ने लगती है।

बच्चों में तनाव और बेचैनी सिर्फ अकादमिक परिस्थितियों से ही पैदा नहीं होती। संगी-साथियों द्वारा छोड़ दिए जाने जैसे सामाजिक तनाव या, मसलन, अपने मां-बाप के बीच लड़ाई-झगड़ों को देखने से पैदा होने वाले तनाव भी उतने ही दर्दनाक रहते हैं। कुल मिलाकर, बच्चे के सामने ऐसे बहुत सारे जोखिम रहते हैं जो उसके खुशहाल, स्वस्थ बचपन को अस्त-व्यस्त कर देते हैं। इन जोखिमों को हम निम्नलिखित श्रेणियों में बांट सकते हैं :

* मनोजैविक एवं प्रज्ञात्मक कारक, जैसे अति सक्रियता, ध्यान न लगा पाना और सामाजिक संबंधों को समझ पाने में मुश्किल और सीखने में कठिनाइयां पैदा हो जाना।
* कठोर अनुशासन या समस्याप्रद संबंधों से पारिवारिक कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं।
* पारिस्थितिकीय कारक, जैसे खतरनाक पड़ोस और समाज विरोधी संगी-साथी।
* संगी-साथियों के साथ मुश्किल संबंध, जैसे धौंसबाजी और दूसरों द्वारा छोड़ दिया जाना।
* स्कूल का व्यवहार, जैसे कक्षा में प्रतिस्पर्धी माहौल, सजा के नाम पर मारपीट, लगातार औरों से तुलना किया जाना।

बचपन या किशोरावस्था में सामने आने वाली गंभीर भावनात्मक समस्याएं आमतौर पर इनमें से एक से अधिक जोखिमों का समानांतर परिणाम होती है। जैसा कि आप कल्पना कर सकते हैं, जहां केवल एक ही जोखिमपूर्ण कारक होता है वहां दूसरी सकारात्मक प्रक्रियाएं विद्यार्थी को ऐसी मुश्किलों से पार पाने में मदद दे सकती है। अगर परिवार और स्कूल का माहौल मददगार हो तो बच्चा, उदाहरण के लिए, डिकलेक्सिक होने जैसी समस्याओं से छुटकारा पा सकता है। या, अगर बच्चे के अच्छे यार-दोस्त हैं तो वह स्कूल की पढ़ाई-लिखाई के दबाव से परेशान होते हुए भी मां-बाप के तलाक के असर को आसानी से जब्त कर जाएगा। लेकिन जिन विद्यार्थियों के सामने एक साथ कई तरह के जोखिमपूर्ण कारक रहते हैं, वे स्थायी भावनात्मक या व्यवहारगत समस्याओं के शिकार हो सकते हैं। ऐसे बच्चे अवसाद और उद्विग्नता संबंधी विकारों से घिर सकते है। वे कई ऐसे व्यवहार संबंधी विकारों के शिकार भी बन सकते हैं जिनके लिए शिक्षकों और अभिभावकों को पेशेवर

विशेषज्ञों की जरूरत पड़ सकती है। बच्चे की भावनात्मक अस्थिरता के मूल कारण को समझने से हमें न केवल उचित समाधान मिल पाता है बल्कि हमें इस बात का अंदाजा लगाने में भी मदद मिलती है कि क्या गड़बड़ी हो सकती है और उसे कैसे रोका जा सकता है।

जोखिमपूर्ण कारकों से कई स्तरों पर लगातार घिरे रहने वाले बच्चों का एक समूह गरीब परिवारों के बच्चों का होता है। उदाहरण के लिए, अल्प आय परिवारों के बच्चों को घर में उतना बौद्धिक उद्दीपन नहीं मिलता जितना मध्यवर्गीय या उच्च आयवर्गीय बच्चों को मिलता है। इससे अल्प आय परिवारों के बच्चों की प्रज्ञात्मक/बौद्धिक बढ़त एवं विकास संबंधी बढ़त पर बुरा असर पड़ता है। तुर्की, चीन, वियतनाम, ब्राजील, जमैका, दक्षिण अफ्रीका में गरीब परिवारों पर किए गए अध्ययनों में दिखाया गया है कि अगर मांओं को अपने बच्चों के साथ ज्यादा असरदार ढंग से बोलने और खेलने के लिए प्रशिक्षित किया जाए तो बच्चे के मौखिक सामर्थ्य, आईक्यू और स्कूल के भीतर प्रदर्शन में उल्लेखनीय सुधार आ जाता है। दूसरे बच्चों के मुकाबले गरीबी में पले बच्चों के सामने तनावपूर्ण जीवन घटनाओं और रोजमर्रा समस्याओं का स्तर भी बहुत ज्यादा होता है इसलिए उनके सामने ज्यादा भावनात्मक कठिनाइयों की भी आशंका हो सकती है। एक बढ़ते बच्चे के लिए भावनात्मक रूप से अस्वस्थ माहौल वह होता है जो उसकी सुरक्षा के लिए आशंका पैदा करता है, जो हिंसक या उत्पीड़न भरा है, अस्त-व्यस्त और अनुमानों के परे है - और, दुर्भाग्य से गरीबी इनमें से बहुत सारे जोखिमों को बच्चे के जीवन में ले आती है। अगर गरीब बच्चों का जीवन गंभीर रूप से अस्त-व्यस्त न हो तो भी गरीब बच्चों को अपने जीवन में वयस्कों के हाथों ज्यादा मारपीट झेलनी पड़ती है, उनके शिक्षक ज्यादा निरंकुशवादी रवैया अपनाते हैं और उनसे प्रायः ऐसे सवाल नहीं पूछते जिनके वे आसानी से जवाब दे सकें। हालांकि आप आसानी से समझ सकते हैं कि गरीबी में पलने वाले बच्चों को भावनात्मक मुश्किलों का सामना करना पड़ता है लेकिन आपको ये जानकर हैरानी हो सकती है कि संपन्न परिवारों के बच्चों के सामने भी भावनात्मक तनाव कम नहीं होते। इस शोध का ब्यौरा आप बॉक्स 2 में देख सकते हैं। अगले भाग में हम ये देखेंगे कि भावनात्मक स्वास्थ्य या भावनात्मक परिपक्वता क्या होती है और अपने विद्यार्थियों में इसे पैदा करने के लिए शिक्षक क्या कर सकता है।

बॉक्स 2

संपन्नता में पले बच्चे

मनोवैज्ञानिक मिखाइल सिकज़ेटमिहाल्यी ने अमेरिकी किशोरों के बारे में एक बड़ी दिलचस्प बात कही है जो मैं यहां उद्धृत करना चाहती हूं : 'किशोरों के कथित सुख... का उनके समुदाय के सामाजिक वर्ग के साथ बहुत गहरा व्युत्क्रमानुपाती संबंध दिखाई देता है...। निम्नतम सामाजिक-आर्थिक तबके के बच्चे आमतौर पर सबसे ज्यादा खुश बताए जाते हैं और उच्च मध्यवर्गीय बच्चे आमतौर पर सबसे कम खुश बताए जाते हैं।' इसका क्या मतलब निकाला जाए? हमने यह तो अकसर सुना है कि पैसा खुशी नहीं खरीद सकता लेकिन हमें इसके उलटे प्रभावों की भी उम्मीद नहीं होती! बेशक, ये हो सकता है कि संपन्न वर्ग के बच्चे खुद को सुखी बच्चों के रूप में दिखाने से कतराते हो परंतु अमेरिका में कार्यरत मनोवैज्ञानिक सुनिया लूथर ने इन बच्चों में भावनात्मक तनाव के कई स्रोत बताए हैं। इससे पहले कि मैं आपके लिए उनके शोध का सार-संकलन पेश करूं, हमें ये याद रखना चाहिए कि ये शोध पश्चिम में किया गया था और भारतीय संदर्भ में इसकी प्रासंगिकता बहुत सीमित हो सकती है। व्यक्तिगत रूप से मुझे लूथर के निष्कर्ष शहरी मध्यवर्गीय एवं उच्चवर्गीय युवाओं के बारे में मेरे अपने प्रेक्षणों से बेहद मिलते-जुलते दिखाई देते हैं।

लूथर ने संपन्न वर्ग के किशोरों में बहुत ज्यादा बेचैनी, अवसाद और मादक पदार्थों के सेवन की समस्या बतायी है। दुर्भाग्यवश, ये परिवार अपने बच्चों में भावनात्मक अस्थिरता के छोटे-मोटे लक्ष्णों को स्वीकार नहीं करते हालांकि जब इस तरह की अस्थिरता बिल्कुल स्पष्ट और गंभीर रूप ले लेती है तो वे सबसे बढ़िया मनोचिकित्सा सेवाओं का इस्तेमाल करते हैं। इस प्रसंग में संभवतः प्राइवेसी के मुद्दे भी अपना काम करते हैं, या हो सकता है संपन्न लोगों को ये मानने में कठिनाई महसूस होती हो कि उनकी जिंदगी में भी कुछ गड़बड़ हो सकती है। लिहाजा, बकौल लूथर, वे 'खुशहाली का लबादा ओढ़े रहने' की कोशिश में लगे रहते हैं। सफलता संबंधी दबाव और वयस्कों से कटाव इन बच्चों की भावनात्मक कठिनाइयों के दो स्रोत हो सकते हैं। संपन्न वर्ग के मां-बाप अपने बच्चों से ज्यादा उम्मीदें रखते हैं। उनको अकसर कई तरह की गैर-स्कूली

गतिविधियों में दाखिल करा दिया जाता है। इस 'ओवर शेड्यूलिंग' से स्कूल में बढ़िया प्रदर्शन का दबाव और बढ़कर रह जाता है।

भारत में भी टेनिस की कक्षा से तबले की कक्षा... के बीच भागते रहने वाले बच्चों की संख्या कम नहीं है... लेकिन हमारे माहौल में *ट्यूशन* का प्रेत सबसे बदनुमा समस्या है। इन आय वर्गों के ज्यादातर बच्चे अपना शाम का समय समानांतर कक्षाओं में बिताते हैं। वे यहां उन्हीं चीजों को दोबारा पढ़ते हैं जो उन्होंने स्कूल में पढ़ ली हैं या जिनको वे स्कूल में जल्दी ही पढ़ लेंगे। उनके मां-बाप के पास सफल कॅरियरों में ऊंचे ओहदे होते हैं जिनके चलते वे इतने वयस्त रहते हैं कि अपने बच्चों के साथ ज्यादा वक्त नहीं बिता पाते। ये सोचना अकसर बड़ा आसान लगता है कि अपने बच्चे के साथ घनिष्ठ भावनात्मक संबंध इस पर निर्भर नहीं करता कि आप उसके साथ *कुल कितना समय बिता रहे हैं* लेकिन शोधों से इस बात के पर्याप्त साक्ष्य मिल चुके हैं कि उनके साथ अच्छा-खासा समय बिताना निहायत अनिवार्य है।

लूथर ने उच्चवर्गीय किशोर-किशोरियों के अपने सेम्पल में दोस्तों के बीच चलने वाले कायदे-कानूनों का भी बड़ा दिलचस्प ब्यौरा दिया है। लड़कों में लोकप्रिय होना इस बात पर निर्भर था कि वे आक्रामक हों और नशीले पदार्थों के सेवन के लिए तत्पर रहते हों, जबकि लड़कियों में लोकप्रिय होने का बोध शारीरिक रूप से आकर्षक होने पर केंद्रित था। हैरानी की बात नहीं है कि यार-दोस्तों में प्रचलित ये कायदे-कानून उनके भावनात्मक और शारीरिक स्वास्थ्य को तबाह करते जाते हैं। ये नतीजे भारतीय शहरी अभिजात्य वर्ग पर लागू हो भी सकते हैं या नहीं भी हो सकते हैं (संभवतः वे तो पढ़ने में ही खपे रहते हैं) लेकिन भारतीय संदर्भ में भी इन आयामों का अध्ययन करना बढ़िया रहेगा।

अंत में, एक समस्या **सुख के भौतिक स्रोतों** पर अतिशय जोर देने की हो सकती है। 'सकारात्मक मनोविज्ञान' पर कई साल से काफी ज्यादा जोर दिया जा रहा है, यानी सुख और संतोष जैसे चरांकों पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। अध्ययनों में यह दिखाया जा रहा है कि हालांकि मनुष्य सुख के स्रोत जुटाने में लगे रहते हैं लेकिन ये स्रोत कोई सकारात्मक असर पैदा नहीं करते (ये वाक्य अंग्रेजी में धुंधला था, चेक करें)। लूथर के शब्दों में '...आज के आर्थिक रूप से संपन्न बच्चे... बौद्धिक चुनौती उठाने या समाज की सेवा करने जैसे लक्ष्यों का विरले ही जिक्र करते हैं।' वह बताती हैं कि मुख्यधारा का मीडिया ज्यादा ताकत, ज्यादा पैसे, ज्यादा शारीरिक सुंदरता के महत्व पर जोर दे रहा है जिससे अंततः संपन्नता में पले बच्चों के लिए सिर्फ तनाव पैदा होता है। इन युवाओं के भावनात्मक स्वास्थ्य से व्यापक समाज के लिए भी दूरगामी परिणाम सामने आएंगे क्योंकि बड़े होने पर संभवतः यही बच्चे अपने-अपने क्षेत्र में सबसे प्रभावशाली पदों पर होंगे। अवसाद और बेचैनी उनकी उत्पादकता को निश्चित रूप से कम करती है लेकिन ज्यादा बारीक बात यह है कि मनोवैज्ञानिक शोधों के मुताबिक दुखी व्यक्ति परोपकार की बजाय चीजों का संग्रह करते जाने में ज्यादा दिलचस्पी लेता है।

बॉक्स समाप्त

भावनात्मक परिपक्वता विकसित करना

मनोवैज्ञानिकों ने भावनात्मकता के जिन आयामों का अध्ययन किया है उनमें **भावनात्मक उत्तेजना** और **नियमन की सामर्थ्य** दो महत्वपूर्ण आयाम हैं। उत्तेजना को भावनात्मक अनुभव की सघनता के रूप में और नियमन को इस सघनता के नियंत्रण के रूप में तथा भावनात्मक अवस्था के प्रति चेहरे पर आने वाले भाव-भंगिमाओं और अन्य व्यवहार संबंधी प्रतिक्रियाओं की अवधि को सीमित करने के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। ये दोनों पहलू बच्चों के बहुत सारे महत्वपूर्ण परिणामों से संबंधित हैं, जैसे सामाजिक समायोजन, अकादमिक प्रदर्शन और यहां तक कि मनोरोगों, जैसे अवसाद या एकाग्रता को क्षीण करने वाली अतिसक्रियता संबंधी विकास परिणामों से भी संबंधित हैं। ये समझना मुश्किल नहीं है कि उत्तेजना और नियमन, दोनों ही दुख और गुस्से जैसी नकारात्मक भावनाओं के मामले में ज्यादा प्रासंगिक होते हैं और नियमन ऐसे बच्चों के लिए ज्यादा महत्वपूर्ण होता है जिनमें उच्च भावनात्मक उत्तेजना की प्रवृत्ति होती है।

उत्तेजना और नियमन को आप कैसे मापेंगे, खासतौर से बच्चों के मामले में? ये एक दिलचस्प सवाल है क्योंकि इसमें मनोवैज्ञानिक माप में निहित मुश्किलों और माप-रहित चीजों को मापने के प्रति मनोवैज्ञानिकों की जिद, दोनों का पता चलता

है। सबसे आम पद्धति यह है कि बच्चों से सवाल पूछे जाएं और उनके जवाबों को वास्तविकता का सटीक प्रतिबिंब माना जाए। स्व-रिपोर्ट पद्धतियां (सेल्फ रिपोर्ट) अलग तरह की विधि होते हैं। उदाहरण के लिए पीएएनएएस-सी (पॉजीटिव ऐण्ड नेगेटिव अफेक्ट स्केल फॉर चिल्ड्रेन - बच्चों के लिए सकारात्मक एवं नकारात्मक भावात्मक माप) में 10 से 14 साल के बच्चों को *जीवंत, उदास, हिम्मतवर* और *भयभीत,* जैसे विशेषण देकर उनसे पूछा जाता है कि पिछले कुछ दिनों या कुछ हफ्तों के दौरान उन्होंने कौन से भाव को किस स्तर तक महसूस किया है। सीएससीआरएस (चाइल्ड सेल्फ कन्ट्रोल रेटिंग स्केल - बाल आत्मनियंत्रण रेटिंग माप) में उनसे ये पूछा जाता है कि वे, उदाहरण के लिए, अपने वायदों को कितना पूरा करते हैं, उत्तेजित होने पर किस हद तक शांत हो पाते हैं और जवाब देने से पहले कितना सोचते हैं, आदि। इसी तरह एचआईएफ (हाउ आई फील - मुझे कैसा लग रहा है) माप में बच्चों को पिछले तीन महीनों को ध्यान में रखते हुए कुछ वक्तव्यों पर अपनी रेटिंग देने के लिए कहा जाता है। इसमें *मैं अकसर खुश था, मैं ज्यादातर डरा रहा, जब मुझे दुख हुआ तो मेरा दुख बहुत ज्यादा था,* और *जब मुझे गुस्सा आया तो मैं अपने गुस्से को नियंत्रित करने या बदलने में सफल रहा,* जैसे वक्तव्य बच्चों को सौंपे जाते हैं। भावनात्मक अवस्थाओं के पल-पल रिकार्ड के लिए ईएसएफ (एक्सपीरियेंस सेम्पलिंग फॉर्म - अनुभव सेंम्पलिंग फॉर्म) का जिक्र किया जाता है जिसका वर्मा एवं उनके सहयोगियों द्वारा किए गए अध्ययन के संदर्भ में पीछे जिक्र आ चुका है। बेशक स्व-रिपोर्ट्स के नतीजों को अहतियात के साथ इस्तेमाल किया जाना चाहिए लेकिन ज्यादा बेहतर यह होगा कि उन्हें बच्चों की भावनात्मकता की दूसरी मापों के साथ जोड़कर ही इस्तेमाल किया जाए। नीचे जिस अध्ययन का ब्यौरा दिया गया है वह इस बात का सरल उदाहरण है कि ये काम कैसे किया जा सकता है।

नैन्सी आइज़ेनबर्ग (नैतिक विकास पर उनके शोध के बारे में आप अध्याय 6 में पढ़ चुके हैं) ने जेफ्री ल्यू और स्री उन्तारी पिदादा के साथ मिलकर इंडोनेशियाई बच्चों के एक समूह में भावनात्मकता का अध्ययन किया था। इन मनोवैज्ञानिकों ने भावना की सघनता, नियंत्रण की क्षमता और सामाजिक क्रिया-कलापों को आंकने का प्रयास किया। इसमें शिक्षकों ने अपने विद्यार्थियों, मां-बाप ने अपने बच्चों को और विद्यार्थियों ने एक दूसरे को इन कसौटियों पर रेटिंग दी थी। अभिभावकों और शिक्षकों के बयान अकसर इस तरह के थे, 'मेरा बच्चा/मेरी बच्ची अपने आसपास की चीजों पर बहुत भावनात्मक प्रतिक्रिया देता/देती है', 'अगर हम कह देते हैं तो ये बच्चा/बच्ची नई गतिविधियों में दाखिल होने से पहले इन्तजार कर सकता/सकती है', 'अगर इस बच्चे को खेल खत्म होने से पहले घर लौटने को कहा जाए तो वह बहुत गुस्सा हो जाता/जाती है' 'मेरा बच्चा/मेरी बच्ची नए लोगों के सामने बहुत शर्माता/शर्माती है' और 'ये बच्चा/बच्ची ऐसे लोगों को देखकर बहुत दुखी हो जाता/जाती है जो उसके जैसे भाग्यशाली नहीं हैं।' विद्यार्थियों से कहा गया था कि वे ऐसे चार-चार दोस्तों की सूची बनाएं जिनके गुस्सा होने की सबसे ज्यादा संभावना रहती है, जिनको वे सबसे ज्यादा पसंद करते हैं और चार ऐसे बच्चों की भी सूची बनाएं जिनको वे सबसे कम पसंद करते हैं। इन 'ऊपरी चार' रैंकिंग्स के आधार पर सारे बच्चों को आंका गया ताकि प्रत्येक विद्यार्थी के लिए एक स्कोर ढूंढा जा सके। मनोवैज्ञानिक ये जानना चाहते थे कि सघनता और नियमन के भावनात्मक रुझान सामाजिक हैसियत और एक भिन्न संस्कृति में सहपाठियों द्वारा स्वीकार किए जाने से संबंधित हैं या नहीं क्योंकि ये बात पश्चिमी संस्कृतियों में विद्यार्थियों के संदर्भ में कई बार सामने आ चुकी थी। इसका जवाब मिला 'हां'। इस इंडोनेशियाई समूह में भी नियमन रहित बच्चे वे थे जो सामाजिक रूप से अस्वीकृत थे। जब उन्होंने बार-बार और सघन रूप से गुस्से जैसी नकारात्मक भावनाओं को व्यक्त किया तो उनको सहपाठियों ने अस्वीकार कर दिया। दूसरी तरफ, जब उन्होंने दुख या बेचैनी जैसी नकारात्मक भावनाओं को आत्मसात कर लिया तो वे शर्मीलेपन का व्यवहार करने लगे और अपने सहपाठियों से एक अलग तरह का अलगाव रखने लगे।

भावनात्मक उत्तेजना और नियमन के लगभग सार्वभौमिक महत्व को देखते हुए आप ये जरूर जानना चाहेंगे कि इन क्षेत्रों में बच्चों को वयस्क किस तरह मदद दे सकते हैं। मनोवैज्ञानिकों के मुताबिक, ऐसी स्थितियों में हम विशेष रूप से नकारात्मक भावनाओं के नियमन के लिए अपने विद्यार्थियों को चार चीजें बता सकते हैं जो इस प्रकार हैं :

* उस भावना से सीधे निपटा जाए (जैसे, विश्राम तकनीक या ध्यान करना)।
* कुछ क्षेत्रों में अपने निहित कौशल को बढ़ाने पर जोर लगाएं जिससे सकारात्मक भावनाएं पैदा होंगी।
* देखें कि आप जिस तरह महसूस करते हैं उसके बारे में आपकी अपनी क्या सोच है।

* अपनी सोच को आलोचनात्मक ढंग से देखें।

* आप जिस स्थिति में हैं अगर उससे आपकी मानसिक शांति पर दबाव पड़ रहा है तो उस स्थिति को बदलने के लिए कदम उठाएं।

पहले दोनों विकल्प काफी स्पष्ट हैं लेकिन बाद वाले दोनों विकल्प शैक्षिक दृष्टि से ज्यादा दिलचस्प हैं। आइए पहले तीसरे विकल्प को देखें जिसमें विद्यार्थी से ये कहा जा रहा है कि वह अपनी भावनाओं को खुद समझे।

भावनात्मक स्थिरता में इस बात का काफी महत्वपूर्ण योगदान होता है कि अपने व्यक्तित्व और सामर्थ्य के बारे में किसी विद्यार्थी की मान्यताएं कैसी हैं। सभी विद्यार्थियों को अपने स्कूली सालों में विफलताओं और संकटों का सामना करना ही पड़ता है। उदाहरण के लिए, अकादमिक सफलता, एथलेटिक सफलता, व्यक्तिगत संबंधों और सामाजिक सफलता के प्रसंग में। परीक्षा में खराब प्रदर्शन करने, किसी सहपाठी द्वारा अस्वीकार कर दिए जाने या किसी शिक्षक द्वारा दंडित किए जाने जैसे नकारात्मक अनुभवों की स्थिति में वे कैसे सामान्य होते हैं और किस तरह अपनी मंजिल की तरफ बढ़ना जारी रखते हैं, इस सवाल की कुंजी संभवतः इस बात में है कि विफलता या इन उतार-चढ़ावों को क्या *अर्थ* दिया जा रहा है। जब बच्चा विफल होता है तो स्वाभाविक रूप से यह मान लिया जाता है कि कुछ बदलावों की जरूरत है। ये बदलाव अगली बार और कठोर प्रयास करने के रूप में या अलग ढंग से काम करने के रूप में हो सकता है। अगर किसी विद्यार्थी को लगता है कि इस तरह का बदलाव संभव है तो वह उस बदलाव के लिए पूरा जोर लगाएगा और 'एक बार फिर कोशिश करेगा।' लेकिन अगर उसे ये लगता है कि उसके सामर्थ्य और/या उसका व्यक्तित्व निश्चित है तो वह रक्षात्मक ढंग से प्रतिक्रिया देगा, उस 'ज्ञान' से निपटने का प्रयास करेगा जो इस विफलता से उसे अपनी सीमाओं के बारे में मिला है। इस प्रकार, किसी विफलता या सदमे/झटके को एक तरफ परिवर्तन के लिए एक चुनौती के रूप में और दूसरी तरफ विनाशकारी और लिहाजा ऊर्जा चूस लेने वाली घटना के रूप में भी देखा जा सकता है। इससे ये तय होता है कि कोई विद्यार्थी ऐसी स्थिति में निष्क्रिय, रक्षात्मक या सक्रिय, किस तरह की प्रतिक्रिया देगा। इससे यह भी तय होगा कि वह अपना समय खुद को साबित करने में लगाएगा या सीखने के लिए नई चुनौतियों की प्रतीक्षा करेगा। इससे उसके स्कूली जीवन की भावनात्मक गुणवत्ता निर्धारित होती है।

हमें अपने विद्यार्थियों को ये समझने में मदद देनी चाहिए कि **उनका प्रदर्शन सीखने का एक जरिया है, सीखना प्रदर्शन का जरिया नहीं है।** शिक्षक के नाते अपने विद्यार्थियों की गलतियों या कमजोर प्रदर्शन पर हम जैसी प्रतिक्रिया देंगे उससे बहुत भारी फर्क पड़ेगा। हो सकता है हम खुद भी प्रदर्शन (चाहे वह होम वर्क के मामले में हो, परीक्षाओं, असाइनमेंट्स या प्रस्तुतियों के बारे में हो) को अपने आप में एक लक्ष्य मानते हों, उसे विद्यार्थी के व्यक्तित्व का कुल योग मानते हों जबकि हमें उसको सुधार के लिए एक बहुमूल्य मार्गदर्शन के रूप में ही देखना चाहिए। लिहाजा, अगर हम यह देखते हैं कि हमारे विद्यार्थी भी प्रदर्शन और विफलता के बारे में वैसे ही विश्वास रखते हैं जैसे हम रखते हैं तो ये हैरानी की बात नहीं होनी चाहिए।

आइए अब भावनात्मक नियमन से संबंधित चौथे सुझाव - भावनात्मक रूप से तनावपूर्ण स्थिति में बदलाव - पर विचार करें। बेशक, किसी तनावग्रस्त विद्यार्थी को ये सुझाव देना बेतुका होगा कि वह खुद 'अपनी स्थितियों को बदले'। लेकिन स्कूल और शिक्षक उस वातावरण को निश्चित रूप से बदल सकते हैं जिसमें उनके विद्यार्थी काम कर रहे हैं। रॉबर्ट रोज़र एक मनोवैज्ञानिक हैं जिन्होंने स्वस्थ शैक्षिक वातावरण के बारे में काफी लिखा है। उन्होंने कक्षा और स्कूल के स्तर पर चार क्षेत्रों में सुधार का सुझाव दिया है : *पाठ्यचर्या, सामर्थ्य, समुदाय* और *देखभाल*।

* पाठ्यचर्या ऐसी होनी चाहिए जो नाना प्रकार की पृष्ठभूमियों से आए विद्यार्थियों के अनुकूल हो और जिसमें परस्पर मिल कर सीखने और क्रमिक, संभव लक्ष्यों के लिए जगह हो।

* शिक्षकों को प्रत्येक विद्यार्थी को सामर्थ्य का एक स्तर हासिल करने, सीखने के दौरान गलतियों को सहज स्वीकार करने और हर चीज को सफलता और विफलता की कसौटी पर न देखने के लिए तैयार करना चाहिए।

* विद्यार्थियों को स्कूल समुदाय के भीतर निर्णय लेने के अवसर प्रदान करने चाहिए ताकि वे खुद को महत्वपूर्ण और अपने स्कूल से 'जुड़ा हुआ' महसूस कर सकें।

* विद्यार्थियों को एक दूसरे के साथ और वयस्कों के साथ निकट संबंध बनाने के अवसर दिए जाने चाहिए। इसके लिए संभवतः स्कूल के भीतर छोटे-छोटे शैक्षिक समूह भी बनाए जा सकते हैं।

पेक्रुन ने भी विद्यार्थियों में भावनात्मक स्थिरता लाने के लिए स्कूलों और शिक्षकों को इसी तरह के सकारात्मक तरीके सुझाए हैं। उन्होंने सामर्थ्य और नियंत्रण जैसे विषयों पर ज्यादा जोर दिया है। उनके मुताबिक, हमें अपने विद्यार्थियों को कठिन काम तो सौंपने चाहिए लेकिन वे उनकी सामर्थ्य के भीतर होने चाहिए। हमें ऐसे काम केवल प्रज्ञात्मक विकास एवं उत्साहवर्धन के लिए नहीं देने चाहिए बल्कि इससे भावनात्मक लाभ भी होते हैं, जैसे किसी कठिन काम को पूरा कर देने पर अच्छा महसूस करना। कहने का मतलब यह है कि समर्थ महसूस करना भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना समर्थ *होने की इच्छा रखना* और समर्थ *होना*। चाहे समूह में या व्यक्तिगत स्तर पर, अगर स्वनियमित ढंग से काम करने की छूट दी जाए तो बच्चों में एक नियंत्रण का भाव पैदा होता है। व्यक्तिगत प्रस्तुति में विद्यार्थी को ये योजना बनाने का जिम्मा सौंपा जा सकता है कि उसे जो चीजें सौंपी गई हैं उन पर वह कैसे काम करेगा, किस रफ्तार से काम करेगा और उन चीजों पर काम करने के लिए उसे जो भी फीडबैक जरूरी हो, वह मिलता रहे। दूसरी तरफ सामूहिक स्थिति में पूरे समूह को इस बारे में फैसले लेने की जिम्मेदारी सौंपी जा सकती है कि सभी सदस्य काम को कैसे बांटेंगे, एक दूसरे को क्या काम सौपेंगे और एक दूसरे की जवाबदेही कैसे तय करेंगे। शिक्षक की भूमिका ये है कि वो आसपास घूमते हुए ये देखती रहे कि हर विद्यार्थी सीखने के लक्ष्य को प्राप्त कर पा रहा है/रही है या नहीं, लेकिन विद्यार्थियों को केवल सामूहिक नियंत्रण के तहत काम करने की छूट देनी चाहिए। पेक्रून के मुताबिक, इस तरह के सहयोगपरक सामूहिक कार्य इसलिए भी महत्वपूर्ण होते हैं क्योंकि इससे मदद पाने की हमारी सामाजिक आवश्यकता और मदद दे पाने की योग्यता सामने आती है।

मनोवैज्ञानिक शोध से जन्मे एक और पहलू के उल्लेख के बिना इस अध्याय को पूरा नहीं किया जा सकता। ये चरांक भले ही मनोवैज्ञानिक शोध से पैदा हुआ है लेकिन इसने आम जनता की कल्पना को भावनात्मक उत्तेजना और नियमन से भी ज्यादा प्रेरित किया है। सुखी महसूस करने और भावनात्मक स्वास्थ्य को अकसर ऊंचे स्वबोध (self-esteem) के साथ जोड़कर देखा जाता रहा है, जो कि एक रोचक चीज है और उसका एक दिलचस्प इतिहास रहा है। जैसा कि अकसर होता है, इस चरांक के मामले में भी लोक मनोविज्ञान ने एक ऐसी तस्वीर पेश की थी जो आकर्षक और सरलीकृत थी, जो शिक्षकों के लिए आसान जवाब और पद्धतियां मुहैया कराती प्रतीत होती थी : यानी बच्चों को अपने बारे में अच्छा महसूस कराओ, उनका प्रदर्शन सुधर जाएगा। इस अध्याय के आखिरी हिस्से में स्वाभिमान की कहानी पर रोशनी डाली गई है और ऐसे प्रश्न पेश किए गए हैं जो मनोवैज्ञानिक बार-बार उठाते रहे हैं। यहां मैं ये बात जोड़ना चाहूंगी कि ये विचार शहरी भारतीय शैक्षिक दायरों में काफी लोकप्रिय हो रहा है और इसीलिए इसके अर्थ और मूल्य की आलोचनात्मक समझदारी हमारे लिए बहुत ही आवश्यक है।

स्वाभिमान

1970 के दशक के शुरुआती सालों से शोध पत्रिकाओं में स्वाभिमान के बारे मे यानी कोई व्यक्ति अपने आपको कैसे आंकता है, इसके बारे में 15,000 से ज्यादा लेख छप चुके हैं। इस विषय पर तीन दशकों तक चली इस गहमागहमी के दौरान प्रचलित मनोवैज्ञानिक संदेश यही था कि ये पहलू बेहद महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे भविष्य के बारे में आशावाद, शराबखोरी में कमी, आक्रामकता में कमी, नौकरी में सफलता, बेहतर शारीरिक स्वास्थ्य और लंबा जीवन आदि बहुत सारे सकारात्मक परिणाम सामने आ सकते हैं। शिक्षकों को ये समझाया जा रहा था कि उच्च स्वाभिमान से स्कूल में बच्चों का प्रदर्शन बेहतर होगा। स्वाभाविक है कि शिक्षक और अभिभावक आलोचना की बजाय बच्चों की सराहना करने, और अधिक सराहना की सलाह देने में जुट गए... और हजारों शिक्षकों ने इस सलाह को पूरे उत्साह से अपने व्यवहार में उतार लिया (मुख्य रूप से पश्चिमी समाजों में)।

स्वाभिमान के बारे में समझने वाली सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस अवधारणा में **सटीकता की कोई आवश्यकता नहीं** है। किसी व्यक्ति में बहुत सारे सकारात्मक गुण और उसके पास बहुत सारी उपलब्धियां हो सकती हैं और संभव है इसके

बाद भी उसका स्वबोध दुर्बल हो जबकि दूसरी तरफ कोई व्यक्ति हो सकता है जो किसी भी क्षेत्र में समर्थ या प्रतिभाशाली न हो लेकिन इसके बाद भी उसका स्वाभिमान बहुत ऊंचा हो। बेशक, ऐसे भी लोग होते हैं जिनका स्वाभिमान एक ज्यादा वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन से मेल खाता है। बहरहाल, मुद्दा ये है कि स्वाभिमान अपने बारे में कोई यथार्थ नहीं बल्कि सिर्फ एक धारणा होती है। इस आंदोलन का दावा ये था कि स्वाभिमान, जो कि मूलतः एक धारणा है, वह बच्चों की सामर्थ्य और कौशल के यथार्थ से बिल्कुल अलग उनके प्रदर्शन पर बहुत भारी असर डाल सकता है। और अगर इस आंदोलन को 15,000 से ज्यादा अध्ययन समर्थन दे रहे थे तो लाजिमी तौर पर यह तर्क सही ही रहा होगा?

गलत! इन सारे सालों के दौरान बहुत सारे अध्ययन स्वाभिमान और परिणामों के बीच गहरा संबंध दिखाने में पूरी तरह नाकामयाब साबित हुए। मनोवैज्ञानिकों और आम लोगों द्वारा स्वाभिमान के इस अतिउत्साही गौरवगान के हल्ले में इन नकारात्मक परिणामों को दफन कर दिया गया क्योंकि सबको यही लग रहा था कि लोगों में चहुंमुखी स्वाभिमान लाभदायक परिणाम और फलस्वरूप एक बेहतर समाज को जन्म देगा। स्वाभिमान आंदोलन में मनोवैज्ञानिक रॉय बाऊमिस्टर एक जाने-माने विचारक रहे हैं जिन्होंने इस क्षेत्र में संभवतः सबसे ज्यादा पेपर लिखे हैं। 2003 में उनको इस क्षेत्र का गहन सर्वेक्षण करने का जिम्मा सौंपा गया और वह अपने सहकर्मियों के साथ पूरी सदिच्छा से इस काम में जुट गए। उनके लिए दुख की बात ये रही कि सर्वेक्षण में 15,000 में से ज्यादातर पर्चे वैज्ञानिक दृष्टि से दोषपूर्ण पाए गए। बचे-खुचे अच्छे पर्चों का संदेश यह था कि ऊंचा स्वाभिमान सफलता की दर को या दूसरे अन्य परिणामों को बढ़ावा *नहीं* देता। इसे अपने कॅरियर की सबसे बड़ी निराशा बताने वाले बाऊमिस्टर अब अपने शोधों के जरिए ये दिखाने की कोशिश कर रहे हैं कि स्वाभिमान को बढ़ाने से प्रदर्शन में *गिरावट* भी आ सकती है और यहां तक कि कुछ परिस्थितियों में तो पूरी तरह विफलता का भी सामना करना पड़ सकता है। इस भ्रम का एक कारण यह था कि ज्यादातर अध्ययन **सहसंबंधों पर आधारित** (correlational) थे और ऐसे डेटा से **कारकता** का पता नहीं लगाया जा सकता था। यानी, हो सकता है अच्छे स्कूल या नौकरी में बेहतर प्रदर्शन से उच्च्च स्वाभिमान पैदा हुआ, या संभव है कि सामाजिक वर्ग जैसा कोई तीसरा चरांक स्वाभिमान और प्रदर्शन, दोनों के पीछे साझा कारक रहा हो। इस भ्रम का एक और कारण यह हो सकता है कि ज्यादातर शोध स्वाभिमान *और* सफलता, दोनों की स्वःरिपोर्ट्स पर आधारित थे। स्वाभिमान के मामले में स्वःरिपोर्ट निर्विवाद रूप से अनिवार्य है। लेकिन सफलता के मामले में एक ज्यादा वस्तुनिष्ठ माप की जरूरत होती है। अगर ऐसा न किया जाए तो हमारे परिणामों की कसौटी भी व्यक्ति के स्वाभिमान की दिशा में ही झुकी रहेगी! कहने का मतलब यह है कि उच्च्च स्वाभिमान वाले लोगों के पास अकसर अपनी सफलताओं की बहुत अतिरेकपूर्ण छवि होती है और इससे स्वाभाविक रूप से डेटा विकृत हो जाता है।

यहां सीधे बाऊमिस्टर को उद्धृत किए बिना काम नहीं चल सकता :

> लिहाजा, भारी व्यक्तिगत निराशा के साथ मैं ये दर्ज कर रहा हूं कि स्वाभिमान आंदोलन के उत्साहपूर्ण दावे ज्यादातर हमारी सुंदर कल्पनाओं से लेकर आंख में धूल झोंकने की हद तक हवाई रहे हैं। स्वाभिमान के प्रभाव छोटे, सीमित रहे हैं और वे हमेशा अच्छे ही पाए गए हों, ऐसा नहीं है। बेशक, यहां-वहां कुछ लोग अपने न्यून स्वाभिमान की वजह से खराब प्रदर्शन करते पाए जा सकते हैं लेकिन ये भी सच है कि बहुत सारे लोग केवल इसीलिए कहीं नहीं पहुंच पाते क्योंकि उनका स्वाभिमान बहुत ऊंचा था और ज्यादातर समय स्वाभिमान आश्चर्यजनक रूप से मामूली असर ही डालता है...। उदाहरण के लिए, मेरे विचार में अगर हम सब एक दूसरे के प्रति थोड़ा और सौम्य होते तो ये दुनिया ज्यादा बेहतर जगह होती। लेकिन ये तो बहुत कठिन है : हम सबको परिवर्तन के लिए खुद को अनुशासित करना पड़ता। इसके विपरीत स्वाभिमान का रास्ता अपने आचरण का बदलने के कठोर काम से बच निकलने और बस ये महसूस करते रहने का छलावा देता है कि हम पहले से ही सौम्य हैं। इससे दुनिया सुंदर होने वाली नहीं है।

आप कह सकते हैं कि आज स्वाभिमान का बुलबुला फूट चुका है। अनुसंधान बताते हैं कि जैसे-जैसे अमेरिका में स्वाभिमान आंदोलन और व्यक्तियों में स्वाभिमान का स्तर बढ़ा है वैसे-वैसे वहां अवसाद और उद्विग्नता और आत्महत्या की दरों में भी इजाफा हुआ है। बेशक, यहां कोई कारकता संबंध नहीं ढूंढा जा सकता लेकिन इन दोनों स्थितियों के बीच सह-संबंध निश्चित रूप से सोचने के लिए विवश जरूर करता है। स्वाभिमान बढ़ाने के संबंध में महत्वपूर्ण भावनात्मक मुद्दे जुड़े हुए हैं

और हमें उनको सावधानी से समझना होगा। स्वाभिमान के विविध आयामों पर और ज्यादा चिंतन-मनन करने से मनोवैज्ञानिकों को कई बड़ी समस्याएं दिखाई दी हैं जिनका सार-संकलन नीचे दिया गया है।

* स्वाभिमान आंदोलन इस बात पर जोर देता है कि 'विद्यार्थी अपने बारे में अच्छा महसूस करें' परंतु इस बात पर ज्यादा ध्यान नहीं देता कि बच्चों के उन वास्तविक कौशलों और सामर्थ्यों को भी बढ़ाया जाए जिन पर यह स्वाभिमान आधारित होगा।

* उच्च स्वाभिमान को **स्वाभिमान की आकांक्षा** से अलग करके देखा जाना जरूरी है। विद्यार्थी के स्वाभिमान को बढ़ाने से वक्ती तौर पर उसकी उद्विग्नता *कम* हो जाती है। लेकिन जब बच्चा अपने स्वाभिमान को बचाने, बनाए रखने और बढ़ाने की चुनौती से जूझता है तो यही काम उसकी उद्विग्नता को *बढ़ा* देता है। यह बात मनुष्यों के बारे में स्वयंसिद्ध है; हम सभी अपने मानसिक सुख-चैन की कीमत पर स्वाभिमान के पीछे दौड़ते हैं!

* यद्यपि स्वाभिमान की *सफल* प्राप्ति से उद्विग्नता और दूसरी नकारात्मक भावनाएं कम हो जाती हैं लेकिन बहुत सारी कक्षाओं में स्वाभिमान एक दुर्लभ संसाधन भी बन सकता है जिसको केवल दूसरों की कीमत पर ही प्राप्त किया जा सकता है। लिहाजा, बहुत सारे विद्यार्थियों के लिए स्वाभिमान की विफल चाह उनके दुख, गुस्से और शर्मिंदगी को बढ़ाने का बायस भी बन जाती है।

* क्योंकि विफलता से स्वाभिमान में गिरावट आती है इसलिए जिन विद्यार्थियों का स्वाभिमान अकादमिक प्रदर्शन से जुड़ा होता है वे सफल होने के ज्यादा गहरे दबाव से गुजरते हैं और इससे सीखने की आंतरिक चाह में कमी आ जाती है।

* अगर स्वाभिमान ही किसी विद्यार्थी का लक्ष्य बन जाता है तो वह नकारात्मक घटनाओं को अपने पूरे व्यक्तित्व पर हावी हो जाने देता है। इससे वह अवसाद में जा सकता है।

इन सारी नकारात्मक बातों में से, मनोवैज्ञानिक जेनिफर क्रॉकर के शब्दों में 'स्वाभिमान की महंगी चाह' शायद सबसे महत्वपूर्ण है। जेनिफर और उनके सहयोगियों ने समूचे स्वाभिमान आंदोलन की गहरी और सूक्ष्म समझ विकसित करने में जबर्दस्त योगदान दिया है। उन्होंने जीवन में स्वाभिमान के उद्देश्य से पैदा होने वाले प्रभावों का गहरा अध्ययन किया है। क्रॉकर का कहना है कि स्वाभिमान या स्वमूल्य *व्यक्तिगत खुशहाली के लिए अनिवार्य आवश्यकता नहीं है,* जबकि सामर्थ्य, संबंधात्मकता और स्वायत्तता बहुत जरूरी है। यहां तक कि अकसर बहुत सारे लोगों की जिंदगी में स्वाभिमान ही एक लक्ष्य बन जाता है और इससे अनिच्छित और अवांछित परिणाम पैदा हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, इस तरह के लक्ष्य से हमारे आपसी संबंधों की गुणवत्ता पर असर पड़ सकता है और हम आपस में मददगार रवैया अपनाएंगे या नहीं, ये बात कुंद हो सकती है। अनुसंधानों से पता चलता है कि जो लोग स्वाभिमान को लक्ष्य बनाकर चलते हैं वे अपने स्वः पर पैदा होने वाले खतरों के लिए दूसरों पर दोषारोपण करते रहते हैं। दूसरों पर इल्जाम धरने से स्वाभिमान की भले ही रक्षा हो जाए लेकिन आपसी संबंधों के लिए ये अच्छी बात नहीं है। एक और निष्कर्ष यह है कि जिन लोगों के पास पहले से ही काफी ऊंचा स्वाभिमान होता है वे अकसर प्रभुत्व और सामर्थ्य के जरिए स्वाभिमान का पीछा करते हैं जबकि जिन लोगों का स्वाभिमान कमजोर होता है वे दूसरों की नजर में स्वीकार्यता की चाह के जरिए स्वाभिमान को पुष्ट करने का प्रयास करते हैं।

इन सारी बातों से आपको अध्याय 8 में दिए गए सराहना वाले हिस्से की याद आ जाएगी। असल में ये दोनों विचार एक दूसरे से बहुत गहरे तौर पर जुड़े हुए हैं और इसी बिंदु पर शिक्षक की भूमिका सामने आती है। एक बच्चे ने क्या किया है, जब कोई वयस्क इस पर ध्यान देने की बजाय उसके व्यक्तित्व या कौशल की सराहना करता है (मानो ये दोनों विशेषताएं स्थिर रहती हों) तो आगे चल कर बच्चा खुद से इस तरह के सवाल पूछने लगता है : क्या मैं स्मार्ट हूं? मैं विनर हूं या लूज़र हूं? इसकी बजाय, अगर विद्यार्थी के पास (बाऊमिस्टर के शब्दों में) 'अपनी वास्तविक प्रतिभा और सफलताओं का एक विनम्र, सटीक अहसास' हो तो वे खुद से इस तरह के सवाल पूछ सकते हैं : मैं क्या बनना चाहती हूं? मैं क्या सीखना चाहता हूं? मैं अपने अंदर क्या विकसित करना चाहता हूं? ये सवाल एक बार फिर कुछ पन्ने पीछे हुई उस चर्चा की याद दिलाते हैं जिसमें इस बात पर विचार किया गया था कि बच्चे अपनी विफलताओं या कमजोरियों पर कैसा रवैया अपनाते हैं।

वहां भी हमने देखा था कि कुछ विश्वासों के चलते विद्यार्थी अपने प्रदर्शन को अपनी सामर्थ्य के बारे में एक फीडबैक की तरह देखने लगता है और इस बात के संकेत के रूप में नहीं देखता कि अगली बार उसे कैसे अपना प्रदर्शन सुधारना है। स्वाभिमान के साथ इसके संबंधों को साफ देखा जा सकता है।

निष्कर्ष

इस अध्याय में विद्यार्थी का भावनात्मक स्वास्थ्य और परिपक्वता सबसे प्रमुख विचार रहे हैं। हमने प्रवाह और आनंद, बेचैनी और तनाव, भावनाओं पर अंकुश और स्वाभिमान, इन तमाम विविध धारणाओं पर विचार किया है। मनोवैज्ञानिक साहित्य में हाल ही में एक और 'भावना' सामने आई है। इसे **संतोष** का नाम दिया गया है। आंतरिक संतोष का विचार सुख की अब तक की हमारी सोच से जरा भिन्न है। प्राचीन आध्यात्मिक एवं दार्शनिक परंपराओं, मसलन 'बौद्ध धर्म' में कहा गया है कि संतुष्टि अपने स्वबोध को पुष्ट करने से प्राप्त नहीं की जा सकती। संभवतः ये एक विरोधाभास की बात है कि एक शक्तिशाली स्वबोध वास्तव में दुर्बल होता है क्योंकि वह हमेशा एक आशंका में जीता है, उसे लगातार सुरक्षा की जरूरत होती है और लिहाजा वह हमेशा बाहरी परिस्थितियों की दया पर निर्भर रहता है। रोज़र सहित कुछ मनोवैज्ञानिक इन दार्शनिक विचारों को मुख्यधारा के मनोवैज्ञानिक शोध के दायरे में लाने में सफल रहे हैं।

क्रॉकर, डेसी एवं बहुत सारे दूसरे मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि भावनात्मक खुशहाली का स्रोत सामर्थ्य, दूसरों से जुड़ाव और स्वायत्तता, इन तीन क्षेत्रों में होता है। दिलचस्प बात यह है कि ये तीनों ही क्षेत्र एक स्वः के शक्तिशाली बोध पर निर्भर करते हैं - एक ऐसा स्वः जो फलां-फलां चीजों में काबिल है, जो दूसरों के साथ जुड़ा हुआ है, और जो अपने जीवन को नियंत्रित कर सकता है। क्या ये स्थिति 'सच्चे' संतोष की धारणा के विपरीत है जिसकी बीती सदियों में कई दार्शनिकों ने व्याख्या की है? क्रॉकर की राय में यह बात सही हो सकती है, क्योंकि उनका कहना है कि '... इस तरह के लक्ष्य (सामर्थ्य, दूसरों से जुड़ाव या स्वायत्तता की चाह) स्वः से फोकस को नहीं हटने देते। वे स्वः के लिए कुछ न कुछ हासिल करने पर केंद्रित रहते हैं और इस तरह लोगों को अपने भय और बेचैनियों के बावजूद आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करने की बजाय उनके भीतर भय और बेचैनियों को जन्म देने की संभावना बनाए रखते हैं।'

इस गहन स्वरुचि का भावनात्मक परिणाम उस समय स्पष्ट हो जाता है जब हम खुद को और अपने विद्यार्थियों को ज्यादा करीब से देखते हैं। एक बार फिर क्रॉकर के शब्दों का सहारा लें तो '...लोग अपने स्वाभिमान को पुष्ट करने के लिए लगातार अपने इन विश्वासों को सींचने का प्रयास करते हैं कि उनको क्या बनना चाहिए या उनको क्या करना चाहिए ताकि उनको सार्थक और मूल्यवान माना जाए; इस तरह की चाहतों से उस समय वक्ती भावनात्मक लाभ जरूर मिलते हैं जब उन्हें सफलता मिलती है। लेकिन जब वे विफल होते हैं तो उन्हें बहुत भारी कीमत भी चुकानी पड़ती है।' इसके स्थान पर उन्होंने और उनके सहयोगियों ने जो विकल्प सुझाया है वह यह है कि हमारे लक्ष्य ज्यादा समावेशी हों, जिनमें औरों की तथा अपनी जरूरतें शामिल हों। ये मान्यता तमाम दूसरी चीजों के मुकाबले व्यक्ति के व्यक्तिगत लाभ पर जोर देने वाले मौजूदा शैक्षिक व्यवहार को मुंह चिढ़ाती प्रतीत होती है।

प्रसिद्ध दार्शनिक एवं शिक्षाविद् दिवंगत जे. कृष्णमूर्ति ने अपनी *कमेंटरीज़ ऑन लिविंग* (प्रथम शृंखला) में लिखा था

> तुम्हारे पास अपने बारे में एक खास अनुमान है, है कि नहीं?
>
> हम सब ही अपने आपको विभिन्न स्तरों पर रखते हैं और हम लगातार इन शिखरों से गिरते रहते हैं। हम इन गिरावटों पर शर्मिंदा होते हैं। हमारी इस शर्मिंदगी, हमारे इस पतन का कारण हमारा स्वाभिमान है। हमें इस पतन को नहीं बल्कि इस स्वाभिमान को अनिवार्य रूप से समझना चाहिए। अगर आपने खुद को किसी शिखर पर रखा ही नहीं है तो आप कैसे गिर सकते हैं? ...आपने खुद को स्वाभिमान, मानवीय प्रतिष्ठा, आदर्श और न जाने किन-किन चीजों के पायदान पर क्यों रख छोड़ा है? अगर आप इस बात को समझ जाएं तो आपके भीतर अतीत को लेकर कोई शर्म नहीं होगी; वह पूरी तरह नष्ट हो चुकी होगी। आप बिना किसी पायदान के वही होंगे जो आप हैं। अगर वह पायदान नहीं होगी, वह ऊंचाई नहीं होगी जिसकी वजह से आप नीचे या ऊपर देखते हैं तो आप वही बन जाएंगे जिससे आप हमेशा बचते रहे हैं। आप क्या हैं, इससे बचने की इस जद्दोजहद से ही हमारे भीतर

भ्रम और एंटागोनिज्म, शर्मिंदगी, असंतोष पैदा होता है। मुझे या किसी और को ये मत बताओ कि तुम क्या हो, तुम खुद यह जानो कि तुम क्या हो। चाहे वह जैसा भी हो : उसको सही ठहराने या उसको दबाने के चक्करों में पड़े बिना उसके साथ जीना सीखो।

हम जो कुछ भी करते हैं, उसके पीछे इस आशय की एक बहुत शक्तिशाली धारणा काम करती है कि प्रत्येक व्यक्ति के पास एक पृथक, स्थायी और वास्तविक स्वः *होता* है। यह धारणा इतनी स्वाभाविक हो चुकी है कि ..... मिसिंग है .... । परंतु हाल के सालों में मुख्यधारा के मनोवैज्ञानिकों ने बार-बार इस स्वः की वास्तविकता पर सवाल खड़े किए हैं। मस्तिष्क और जीवविज्ञान की दृष्टि से ऐसा कोई निश्चित स्थान नहीं है जहां स्वः का वास हो। मौजूदा सिद्धांत अकसर स्वः को एक ऐसे छलावे (illusion) के रूप में चिन्हित करते हैं जो पल-प्रति-पल चलने वाली मस्तिष्कीय प्रक्रियाओं से पैदा होता है। भावनात्मक स्वास्थ्य की दृष्टि से इन परिणामों के संभावित निहितार्थों के बारे में खोजबीन दिलचस्प रहेगी और प्रस्तुत अध्याय के आखिर में दिए गए संदर्भों में मैंने इस विषय से जुड़े कई स्रोत दिए हैं। और भी बेहतर यह होगा कि हम अपने विद्यार्थियों, खासतौर से थोड़ा बड़े विद्यार्थियों के साथ इन विचारों पर खुली चर्चा करें। ये सर्वविदित धारणा है कि किशोरावस्था में लड़के-लड़कियां एक पहचान गढ़ने की कोशिश में मुब्तिला रहते हैं; लेकिन ये ऐसा समय भी हो सकता है जब वे इस आशय की अजीबोगरीब दलील से जूझने का साहस जुटाएं कि वास्तविक भावनात्मक सुरक्षा किसी भी तरह की कोई पहचान न होने से ही आती है! इस किताब के आखिरी अध्याय में किशोरावस्था और इस उम्र के लड़के-लड़कियों के सामने आने वाली असंख्य चुनौतियों पर विचार किया गया है जिनमें एक चुनौती यह है कि उनके जीवन में मौजूद वयस्कों के रूप में हमें उनके साथ मानव अस्तित्व के कुछ गहनतम और सबसे बुनियादी सवालों पर विचार मंथन के उत्तेजक अवसर का पूरा लाभ उठाना चाहिए।

संदर्भ और ग्रंथ सूची